वीर संवत २४९२, माघ कृष्णपक्ष ३, मंगलवार

दि.८-२-१९६६, गाथा १४, १५, प्रवचन नं.-२०

छन्द १४ (उत्तरार्द्ध)

छह अनायतन तथा तीन मूढ़ता दोष

कुगुरु-कुदेव-कुवृष सेवककी नहिं प्रशंस उचरै है;
जिनमुनि जिनश्रुत विन कुगुरादिक, तिन्हैं न नमन करे है।।१४।।

अन्वयार्थ :- (सम्यग्दृष्टि जीव) (कुगुरु-कुदेव-कुवृष सेवककी) कुगुरु, कुदेव और कुधर्म-सेवक की (प्रशंस) प्रशंसा (नहिं उचर है) नहीं करता। (जिन) जिनेन्द्रदेव (मुनि) वीतरागी मुनि (और) (जिनिश्रुत) जिनवाणी (विन) के अतिरिक्त (जो) (कुगुरादि) कुगुरु, कुदेव, कुधर्म हैं (तिन्हें) उन्हें (नमन) नमस्कार (न करै हैं) नहीं करता।

भावार्थ :- कुगुरु, कुदेव, कुधर्म; कुगुरु सेवक, कुदेव सेवक तथा कुधर्म सेवक, - यह छह अनायतन (धर्म के अस्थान) दोष कहलाते हैं। उनकी भक्ति, विनय और पूजनादि तो दूर रही, किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव उनकी प्रशंसा भी नहीं करता; क्योंकि उनकी प्रशंसा करने से भी समकित में दोष लगता है। सम्यग्दृष्टि जीव जिनेन्द्रदेव, वीतरागी मुनि और जिनवाणी के अतिरिक्त कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्रादि को (भय, आशा, लोभ और स्नेह आदि के कारण भी) नमस्कार नहीं करता, क्योंकि उन्हें नमस्कार करने मात्र से भी समकित दूषित हो जाता है। कुगुरु-सेवा, कुदेव-सेवा तथा कुधर्म-सेवा - यह तीन भी समकित के मूढ़ता नामक दोष हैं।।१४।।

अब, '**छह अनायतन दोष और तीन मूढ़ता दोष**' (कहते हैं।) चौदहवीं (गाथा का) आधा भाग।

कुगुरु-कुदेव-कुवृष सेवककी नहिं प्रशंस उचरै है;
जिनमुनि जिनश्रुत विन कुगुरादिक, तिन्हैं न नमन करे है।।१४।।

सम्यग्दृष्टि, महान अलौकिक आत्मा के अन्तर का भान (हुआ है), सम्यक् चैतन्यमूर्ति की जहाँ अन्तर में प्रतीति और भान हुआ है, उस निश्चयसम्यग्दर्शन में, उसे व्यवहार में ऐसे पच्चीस दोष आदि नहीं होते। जहाँ वीतरागभाव ही दृष्टि में अधिकपने भासित हुआ-ऐसे धर्मी को रागादि और राग के फल में, जो कि मिथ्यादृष्टि आदि होते हैं, उनकी उसे सेवा और प्रशंसा नहीं हो सकती - यह बात करते हैं। देखो !

'**(कुगुरु कुदेव कुवृष सेवककी) कुगुरु, कुदेव, कुधर्म, कुगुरु सेवक, कुदेव सेवक और कुधर्म सेवक की प्रशंसा नहीं करता।**' जिसे आत्मा के शान्त अविकारी धर्मका भान है, वह (जो) उस विकारी अवस्था में धर्म मानता है, वह वास्तविक नव तत्त्व से विरुद्ध जिसकी दृष्टि है - ऐसे कुदेव-कुगुरु और कुशास्त्र तथा उनके माननेवालो की प्रशंसा उसे कैसे होगी ? जैसा आत्मा का स्वंरूप शुद्ध, आनन्द और ज्ञायकमूर्ति है, एक समय की पर्यायवाला और त्रिकाल द्रव्यवाला - ऐसा जिसे वास्तविक अन्तर दृष्टि में भासित हुआ है - वह निश्चय सम्यग्दृष्टि, व्यवहार में भी कुगुरु-कुदेव की सेवा नहीं करता अथवा प्रशंसा नहीं करता। सेवा तो ठीक, परन्तु प्रशंसा नहीं करता - यहाँ तो ऐसा कहते है। '**नहि प्रशंस उचरै...**' समझ में आया ?

मुमुक्षु :- लौकिक में मेल रखना अच्छा।

उत्तर :- लौकिक के साथ मेल रखता ही नहीं। उसे कोई मेल है ही नहीं। कोई राजादि हो, उनसे हाथ जोड़कर लौकिक बात करे, वह अलग बात है। धर्मबुद्धि से कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र और उनके माननेवालों की (प्रशंसा नहीं करता कि) तुम बहुत अच्छा करते हो, अच्छी संगत करते हो, सत् समागम ठीक करते हो। हम सदा पढ़ते सत् समागम करते हैं, विपरीत

शास्त्र पढ़ते (हैं), उन्हें कहे ठीक, तुम इतना तो करते हो, सम्यग्दृष्टि ऐसी प्रशंसा (नहीं करता)। मिथ्या शास्त्र के पढ़नेवाले, मिथ्या देव को माननेवाले, मिथ्या गुरु को माननेवाले तथा मिथ्या देव-गुरु और शास्त्र (ऐसे) छह की प्रशंसा नहीं करता है।

'**जिनेन्द्रदेव, वीतरागी मुनि...**' दिगम्बर सन्त, आत्मज्ञानी भावलिंगी सन्त और '**जिनवाणी...**' देखो ! वीतराग की वाणी, सर्वज्ञ परमेश्वर द्वारा कही गई वाणी, उस परम्परा से जो वीतराग की वाणी आयी हो, इसके अतिरिक्त '**कुगुरु, कुदेव, कुधर्म को नमस्कार नहीं करता।**' समझ में आया ? पहले में प्रशंसा नहीं करता - ऐसा कहा; उन्हें नमस्कार नहीं करता - ऐसे दो बोल है। समझ में आया ? जिसे माल संभालना हो, उसकी यह बात है। माल प्रकटा है, आत्मा आनन्द और ज्ञायकमूर्ति की दृष्टि में जिसे वह माल संभालना है, उसके व्यवहार में भी ऐसे कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को (वह) धर्मबुद्धि से नमन नहीं करता। समझ में आया ? यह छह अनायतन धर्म के दोष कहलाते हैं। उनकी भक्ति, विनय और पूजन इत्यादि तो दूर रहा, परन्तु सम्यग्दृष्टि उनकी प्रशंसा भी नहीं करता। जगत के साथ मिलनसार न हो ऐसा हो जाए - ऐसी बात है।

पूर्णानन्द प्रभु, एक समय में अखण्ड आत्मा जिसकी एक समय की पर्याय में तीन काल- तीन लोक का जानना होता है - ऐसी पर्याय के अनन्त पर्याय का स्वामी द्रव्य, उसकी जिसे अन्तर में - अनुभव में सम्यक् प्रतीति हुई है, वह ऐसे अज्ञानी-जिन्हें अभी द्रव्य अखण्ड क्या है, (यह पता नहीं है।) खण्ड माने, अनेक न माने सब होकर एक ही माने, अनेक प्रकार के व्यवहार के विकल्प आदि से धर्म माने - ऐसे जीव की धर्मी भक्ति, बहुमान, विनय, पूजन इत्यादि तो दूर रहा (परन्तु) प्रशंसा (भी) नहीं करता।

मुमुक्षु :- सम्यग्दर्शन होने के बाद न ?

उत्तर :- बाद की बात है, परन्तु पहले उसकी श्रद्धा सच्ची होनी चाहिए या नहीं ? पहले भी वह सच्ची श्रद्धा करने के लिए सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा (करना)। कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की श्रद्धा छोड़नी चाहिए या नहीं ? पहले छूटे बिना इसे स्वद्रव्य की श्रद्धा कैसे होगी ? वस्तुतः तो पहले ऐसा विकल्प है। इसीलिए कहा न - 'त्याग वैराग्य न चित्त में' तो

इसका अर्थ यह है। कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र, नव तत्त्व से विरुद्ध मान्यतावाले, ऐसों की श्रद्धा, राग की तीव्रतामें से नहीं हटे और मन्दराग न हो तो उसे आत्मदर्शन नहीं होता, तथापि उससे आत्मदर्शन नहीं होता। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- समन्वय रखना चाहिए...

उत्तर :- विरोध किसने किया ? यह प्रश्न किसने किया ? विरोध तो किसी के प्रति नहीं है। विरोध का प्रश्न क्या ? किसी व्यक्ति के प्रति विरोध होता है ? सबके साथ प्रेम होता है। 'तत्त्वेषु मैत्री, गुणेषु प्रमोदम्, किलषेषु कृपा करत्वम्।' और बहुत विपरीत हो, उसके प्रति मध्यस्थता ही आती है। व्यक्तिगत विरोध किसी के प्रति नहीं होता। समझ में आया ?

यहाँ तो कहते हैं कि उसकी अनुकूलता का आदर और विनय और भक्ति (न करे)। तुम बहुत अच्छे है, तुम ठीक हो, तुम भी धर्म का अच्छा काम करते हो - ऐसी प्रशंसा नहीं करे। पूरी बात ही अलग होती है। उल्टे रास्ते खिंच गया हो, परन्तु सुल्टे रास्ते जानेवाले उल्टे रास्तेवाले की प्रशंसा किस प्रकार करें ? समझ में आया ? न्याय से भी बात है न ?

सर्वज्ञ परमात्मा और महा सन्त... लो न ! 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' बिराजमान हों और उनसे विरुद्ध मान्यतावाले जीव हों, उनका भी आदर करे और इनका भी आदर करे, उनके भी पैर लगे और इनके भी पैर लगे - इसका क्या अर्थ हुआ ? यह तो तत्त्व का विरोध हुआ। समझ में आया ? यह तत्त्व का विरोध है। सामनेवाले के लिये नहीं, स्वयं की श्रद्धा में निश्चय भान में व्यवहार में विरुद्ध श्रद्धा नहीं होती, इसके लिये यह बात है; दूसरे व्यक्ति के लिये बात नहीं है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- मध्यस्थता...

उत्तर :- हाँ; मध्यस्थ हो जाना। दोनों को (समान माने तो) मिथ्या मूढ़ है। जहर और अमृत दोनों को समान (माने) वह तो मूढ़ है, मिथ्या मूढ़ है। (उसे) विवेक का भान नहीं होता। खाने के लिए विष्टा भी सच्ची और अमृत भी सच्चा - ऐसा होता है ?

मुमुक्षु :- जानना चाहिए... !

उत्तर :- जानना तो यथार्थ जानना चाहिए, जानने में कहाँ प्रश्न है ?

'**क्योंकि उनकी प्रशंसा करने से सम्यक्त्व में दोष लगता है।**' यह व्यवहार समकित की बात चलती है, हों ! जिनेन्द्रदेव, परमेश्वर पूर्ण परमात्मा, वीतराग मुनि - ऐसा लिया। देखो ! अन्दर में जिनका राग टल गया। तीन कषाय टली है और भावलिंगी मुनि हुए हैं, बाह्य में नग्न द्रव्यलिंगी है।

मुमुक्षु :- दोष ...

उत्तर :- दोष में दोष करे तो दोष है, यह बात है। दोष है, वह तो निश्चय की अपेक्षा दोष है, परन्तु अशुद्धता टलने की अपेक्षा से यह व्यवहार से लाभ है। समझ में आया ? कुदेव-कुगुरु से छूटता है न ? इतनी अपेक्षा से उसे व्यवहार से लाभ भी कहा जाता है। निश्चय से लाभ नहीं है; निश्चय से बन्ध का - दु:ख का कारण है, परन्तु जो तीव्र मिथ्यात्व आदि का पोषण करने की अपेक्षा ऐसे जो मन्द रागादि होते हैं, उमें उसे मन्द बन्ध पड़ता है, पहले में तीव्र में कठोर बन्ध पड़ता है - इस अपेक्षा से अन्तर है। बन्ध की अपेक्षा से निश्चय में आदरणीय नहीं है, यह अलग बात है। यह तो व्रत ले, उनमें अतिचार टाले। व्रत है, वह विकल्प है; विकल्प है, वह दोष है। यह तो दोष में दोष कहा न, इसलिए (स्पष्ट किया)।

वस्तुत: तो जहाँ आत्मदर्शनपूर्वक स्वरूप की स्थिरता है, वहाँ बारह व्रत का विकल्प आता है, परन्तु विकल्प है, वह वास्तव में तो दोष है, बन्ध का कारण है, परन्तु उसकी मर्यादा-प्रमाण जो मन्दता है, उससे विरुद्ध हो तो उसे टालना चाहिए- ऐसा कहते हैं। समझ में आया या नहीं ? व्रत को अनाचार रूप से नहीं करना, अतिचार टालना - इसका अर्थ क्या हैं ? जो मन्द दोष है, उसमें से तीव्र दोष नहीं होना चाहिए - ऐसा उसका अर्थ है।

वीतराग देव परमेश्वर सर्वज्ञ देव... अरे...! जिसे सर्वज्ञ देव का वस्तु का स्वरूप अन्तरदृष्टि में जँचा, उसे सर्वज्ञ देव ही विकल्प में, प्रतीति में होते हैं। निश्चय में स्व आत्मा; व्यवहार में विकल्प में भगवान परमेश्वर। समझ में आया ? और या वीतराग मुनि। वीतराग दृष्टि हुई है, वीतरागभाव का आदर हुआ है तो विकल्प में भी वीतरागी मुनि का ही आदर

व्यवहार से होता है।

'**जिनवाणी...**' वीतराग की वाणी परमेश्वर द्वारा कथित। अन्दर गड़बड़ करके विपरीत कहा हो, वह जिनवाणी नहीं है। जिसमें परमेश्वर सर्वज्ञ देव ने वीतरागता की स्थिति की स्थापना की है, वीतरागता की शुद्धि बताई है, वीतरागता की वृद्धि कही है – ऐसी वीतराग की वाणी होती है। समझ में आया ? ऐसी वीतराग की वाणी के अतिरिक्त '**कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र इत्यादि को (भय, आशा, लोभ और स्नेह इत्यादि से भी) नमस्कार नहीं करता।**' समझ में आया ? जिसे अभी व्यवहार का ठिकाना नहीं, उसे निश्चय तो होता नहीं, ऐसा कहते हैं, परंतु जिसे निश्चय होता है, उसे व्यवहार ऐसा होता है; उसे मिथ्या व्यवहार नहीं होता। समझ में आया ?

भय से, यदि यहाँ नहीं करुँ तो मेरी नौकरी छूट जाएगी या अमुक होगा या पालन-पोषण (नहीं रहेगा), परिवार को आधार नहीं रहेगा – इस भय से भी सम्यग्दृष्टि ऐसे कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की विनय, आदर नहीं करता। आशा से – कुछ लाभ होगा; लोभ से – लड़के-लड़कियों का विवाह होगा अथवा विवाह आदि प्रसंग होंगे अथवा प्रेम से भाई-बन्धु रूप से – ऐसे प्रेम से भी उन्हें नमस्कार नहीं करता।

'**क्योंकि उन्हे नमस्कार करने मात्र से भी समकित दूषित हो जाता है। अर्थात् कुगुरु-सेवा, कुदेव-सेवा तथा कुधर्म-सेवा - यह तीन भी समकित के मूढ़ता नामक दोष हैं।**' लो ! मूढ़ता के दोष हैं; अमूढ़पने में ये दोष नहीं हो सकते।

अब, यहाँ कहते हैं – समकित की महिमा। ओ..हो...! सम्यग्दर्शन अर्थात् आहा..हा...! लोगों को महिमा ही नहीं है, क्या सम्यग्दर्शन है !

अव्रति सम्यग्दृष्टि की देवों द्वारा पूजा और गृहस्थपने में अप्रीति

दोषरहित गुणसहित सुधी जे, सम्यग्दरश सजैं हैं;
चरितमोहवश लेश न संजम, पै सुरनाथ जजैं हैं।
गेही, पै गृहमें न रचैं ज्यों, जलतैं भिन्न कमल हैं;
नगरनारिकौ प्यार यथा, कादेमें हेम अमल है।।१५।।

अन्वयार्थ :- (जे) जो (सुधी) बुद्धिमान पुरुष (उपर कहे हुए) (दोष रहित) पच्चीस दोष रहित (तथा) (गुणसहित) निःशंकादि आठ गुणों सहित (सम्यग्दर्शन) सम्यग्दर्शन से (सजैं हैं) भूषित हैं (उन्हें) (चरितमोहवश) अप्रत्याख्यानावरणीय चारित्रमोहनीय कर्म के उदयवश (लेश) किंचित् भी (संजम) संयम (न) नहीं है (पै) तथापि (सुरनाथ) देवों के स्वामी इन्द्र (उनकी) (जजैं हैं) पूजा करते हैं; (यद्यपि वे) (गेही) गृहस्थ हैं (पै) तथापि (गृहमें) घर में (न रचै) नहीं राचते (ज्यों) जिस प्रकार (कमल) कमल (जलतैं) जल से (भिन्न) भिन्न है, (तथा) (यथा) जिस प्रकार (कादेमें) कीचड़ में (हेम) सुवर्ण (अमल है) शुद्ध रहता हैं, (उसी प्रकार उनका घरमें) (नगरनारिकौ) वेश्या के (प्यार यथा) प्रेम की भाँति (प्यार) प्रेम (होता है)।

भावार्थ :- (जो विवेकी पच्चीस दोष रहित तथा आठ अंग (आठ गुण) सहित सम्यग्दर्शन धारण करते हैं उन्हें, अप्रत्याख्यानावरणीय कषाय के तीव्र उदय में युक्त होने के कारण, यद्यपि संयमभाव लेशमात्र नहीं होता; तथापि इन्द्रादि उनकी पूजा (आदर) करते हैं। जिस प्रकार पानी में रहने पर भी कमल पानी से अलिप्त रहता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि घर में रहते हुए भी गृहस्थपने में लिप्त नहीं होता, उदासीन (निर्मोह) रहता है। जिस प्रकार [१]वेष्या का प्रेम मात्र पैसे में ही होता है, मनुष्य पर नहीं होता; उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि का प्रेम समकित में ही होता है, किन्तु गृहस्थपने में नहीं होता। तथा जिस प्रकार सोना कीचड़ में पड़े रहने पर भी निर्मल रहता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव गृहस्थदशा में रहने पर भी उसमें

१ यहाँ वेश्या के प्रेम से मात्र अलिप्तता की तुलना की गई है।

लिप्त नहीं होता, क्योंकि वह उसे [२]त्याज्य (त्यागने योग्य) मानता है।[३]

अव्रती सम्यग्दृष्टि की देवों द्वारा पूजा और गृहस्थपने में अप्रीति

दोषरहित गुणसहित सुधी जे, सम्यग्दरश सजैं हैं;
चरितमोहवश लेश न संजम, पै सुरनाथ जजैं हैं।
गेही, पै गृहमें न रचैं ज्यों, जलतैं भिन्न कमल हैं;
नगरनारिकौ प्यार यथा, कादेमें हेम अमल है।।१५।।

तीन तो दृष्टान्त दिये हैं। देखो ! भाषा मात्र शुद्धि प्रयोग की है। समझ में आया ? पाठ में 'सुधी' है। सम्यग्दर्शन ही 'सुधी' है। सुधी अर्थात् सच्ची बुद्धिवाला है। समझ में आया ? और वह साध्य में है, बाकी सब असाध्य में है।

आत्मा चैतन्य ज्योत भगवान पूर्णानन्द का जहाँ भान (हुआ), भले गृहस्थाश्रम में चक्रवर्ती का राज्य हो, समझ में आया ? बहुत भोग हों, यह अभी कहेंगे... और विषयासक्त भी हो। आसक्त, हाँ ! रुचि अलग और आसक्त अलग (वस्तु है), तथापि आत्मा अन्दरमें उस विकल्प से पार निर्विकल्प भगवान आत्मा की दृष्टि-अनुभवदृष्टि हुई है - ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव को... कहते हैं, हम बुद्धिमान कहते हैं। वह बुद्धिमान है। कहो, समझ में आया ? कम जाना या बाहर का अधिक जाना, उसके साथ सम्बन्ध नहीं है। आहा..हा... !

'**(सुधी) बुद्धिमान पुरुष (ऊपर कहे हुए) (दोष रहित)**' ऊपर कौन कहें ? पच्चीस दोष कहें न ? ऐसे '**पच्चीस दोष रहित (और) निःशंकादि आठ गुण सहित,...**' उसके सामने (आठ गुण) शंकादि दोष रहित और निःशंकादि गुण सहित... '**सम्यग्दर्शन से (सजै है)**

---

२ **विषयासक्तः अपि सदा सदा सर्वारम्भेषु वर्तमान अपि। मोहविलास एषः इति सर्व मन्यते हेयं।३४१। (स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा)**

३. **रोगी को औषधि सेवन और बन्दी को कारागृह भी इसके दृष्टान्त हैं।**

भूषित है...' सम्यग्दर्शन से भूषित है। उस सम्यग्दर्शन के आभूषण से जो सज्जित है। आहा..हा...! समझ में आया ?

'**(उन्हें) चारितमोहवश...**' यह शब्द पड़ा है। कर्म के कारण नहीं परन्तु '**अप्रत्याख्यानावरणीय चारित्रमोहनीय कर्म के उदय के वश...**' समझ में आया ? दूसरी चोकड़ी का उदय है, उसके यह आधीन हो गया है, वश है। भाई ! चारित्रमोह का उदय है, उसमें यह वश, आधीन हो गया है। आधीन होता है, हों ! स्वयं से, पर से नहीं; इस कारण इतनी भाषा प्रयोग की है। देखो ! कितनी विवेक की भाषा है। कर्म के कारण आरम्भ में पड़ा है और विषयों की आसक्ति में पड़ा है - ऐसा नहीं है। आत्मा के आनन्द की रुचि है, विषयों में आनन्द नहीं मानता; आरम्भ में आरम्भ है, वह ठीक करता हूँ - ऐसी रुचि नहीं है। हिंसा, झूठ, विषय आदि व्यापार धन्धा, बड़ा करोडों-अरबों का धन्धा हो, समकिती को...

मुमुक्षु :- धन्धा कर सकता है ?

उत्तर :- धन्धा होता है, अर्थात् उसके पास होता है - यहाँ तो ऐसा बताना है। हें ? उसके पास दिखता है कि यह महाधन्धा, ऐसा व्यापार करता है। जहाज आदि का बड़ा व्यापार हो, समझ में आया ? परन्तु आत्मा के स्वरूप के आनन्द के प्रेम के समक्ष कोई प्रेम लूंट नहीं जाता, किसी चीज़ में प्रेम नहीं आता। समझ में आया ? आहा..हा...!

'**अप्रत्याख्यानावरणीय चारित्रमोहनीय कर्म के उदयवश...**' समझ में आया ? 'तीव्र' शब्द का प्रयोग नहीं किया है। भावार्थ में 'तीव्र' शब्द का प्रयोग किया है। वश है। मूल तीव्र है। तीव्र का अर्थ क्या ? अभी पाँचवा आदि (गुणस्थान) नहीं आया है। भावार्थ में तीव्र (शब्द) प्रयोग किया है न ? मूल पाठ में भी प्रयोग किया है। तीव्र का अर्थ कि उसे जरा भी मन्द (नही), पंचमगुणस्थान के योग्य जो चाहिए, वैसा भी अभी नहीं हुआ। कुछ एसी योग्यता (चाहिए, वह नहीं है)। अप्रत्याख्यान दूसरी चौकड़ी के उदय में अत्यन्त जूड़ गया है, वश है। वश है, वह सम्यग्दर्शन का दोष नहीं है; वह चारित्रदोष है। दोनों कठोर (है)। आसक्ति और रुचि दोनों में बड़ा अनन्तगुना अन्तर है। समझ में आया ?

विषयों की रुचि, वह मिथ्यात्व है और विषयों की आसक्ति, वह चारित्रदोष है - दोनों

पूरी अलग चीज़ है। बाह्य विषयों का त्यागी हो और अन्दर गहरे राग की रुचि पड़ी है, वह उसे विषय की ही रुचि है, क्योंकि राग का फल ही विषय है और उनका भोक्तापन है। समझ में आया ? जहाँ भगवान आत्मा के आनन्द की रुचि नहीं है और जिसके राग के, शुभराग की, एक मन्द राग की भी रुचि और प्रेम है, उसे राग के फलरूप विषय (मिले), उनका उसे अन्दर प्रेम है ही, उसे विषय नहीं छूटे हैं। उसे राग का प्रेम है। राग तो परवस्तु के लक्ष्य से हुआ है और राग के फल में परविषय मिलते हैं। समझ में आया ? (ज्ञानी) राग से भिन्न आत्मा के भान में सज्जित हुआ है।

दूसरे ऐसा कहे कि यह श्रीखण्ड, पुड़ी खाता है, हम रोटी खाते हैं, भाई ! यह समकिती और सदा हलुआ-पुड़ी उड़ाता है और हम रोटी खाते हैं, छाछ-पानी और दो-तीन ऐसे खाते हैं। अब, सुन न भाई ! जिसे राग के विकल्प का प्रेम और रस का भोग है, उसे बाह्य त्याग में चाहे जितना त्याग वर्तता हो, समझ में आया ? उसे मिथ्यादृष्टि का ही भोग है और आत्मदर्शन की दृष्टि में संयोग की क्रिया कोई अघाति के कारण बहुत बन जाए और घातिकर्म के उदय के वश होने से आसक्ति भी हो, तथापि वह चारित्रदोष है, अति अल्प दोष है, महान अल्प दोष है। आहा..हा... ! इन दोनों का अन्तर (भेद) करना जगत को (कठिन पड़ता है)। स्व और पर विवेक (चाहिए)। समझ में आया ?

कितने ही इसके बहाने ऐसा कहते हैं कि देखो ! समकिती को भी ऐसे भोग होते हैं न ! अमुक होता है न ! हमें चारित्रमोह का उदय है, इसलिए यह है... ! मर जाएगा। अन्दर मीठास पड़ी है और तू चारित्रमोह के उदय के वश कहता है... (मर जाएगा)। समझ में आता है ? इस तरह कीर्ति, विषय-भोग आने पर अन्दर में गुदगुदी (होने लगती है), अन्दर मीठास आती है। वह मीठास मिथ्यात्व की मीठास है। वह भले ही बाहर में बहुत अधिक त्याग हो। भाई !

मुमुक्षु :- एक को अल्पदोष है और एक को महादोष है ?

उत्तर :- एक को अल्पदोष है और एक को महा मिथ्यात्व का दोष है। एक ही घर में रहनेवाले करोड़पति के दो लड़के हों, लो ! यह कोई कहता था कि सम्यग्दृष्टि का पक्षपात है, भेदभाव करते हो, (-एसा कहता था), परन्तु कुछ भान नहीं है। बापू ! सम्यग्दर्शन अर्थात्

क्या ? भाई ! वह तो परमात्मा का पुत्र हो गया। अब उसे परमात्मा का उत्तराधिकार लेने की तैयारी है। आहा..हा... ! केवलज्ञान ! वह आगे कहेंगे, देखो ! सम्यग्दर्शन तो मोक्षमहल की पहली सीढ़ी है। मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी। वह १७ वें श्लोक में है, इसका अंतिम श्लोक है न ! तीसरी (ढाल का)।

मोक्षमहलकी परथम सीढ़ी, या विन ज्ञान चरित्रा;
सम्यक्ता न लहे, सो दर्शन धारो भव्य पवित्रा।

पवित्रता... पवित्रता... पवित्रता... आहा..हा... ! अरे.. ! भाई ! कहते हैं कि, चारित्रमोह के अन्तर उदय के वश पड़ा होने पर भी '**जरा भी संयम नहीं...**' जरा भी... भाषा कैसी प्रयोग की है ? लेश भी संयम नहीं है। आहा..हा... ! अरे.. ! संयम नहीं, अस्थिरता का नहीं, बाकी पूरे लोकालोक का संयम (है) दृष्टि में निषेध हो गया है। समझ में आया ? यह बात इसके लिए तो यहाँ कहते हैं।

'**जरा भी संयम नहीं है तो भी (सुरनाथ)...**' देवों के इन्द्र। इन्द्र आकर सेवा करते हैं। इसमें लिखा है, हाँ ! चित्र में किया है, चित्र में किया है। चित्र सब बनाये हैं। यह चित्र बनाया है, देखो ! समकिती बैठा है, वस्त्र पहिने हुए हैं, हाँ ! है इसमें ? इन्द्र आकर हाथ जोड़ता है, देखो ! ओ..हो... ! धन्य अवतार... धन्य अवतार... धन्य अवतार ! भव का किया अभाव, धन्य अवतार तेरा.. ! भव का किया अभाव, यह तेरा अवतार। आहा..हा... ! समझ में आया ? लो, यह इन्द्र तो तीन ज्ञान का स्वामी है, समकिती है तो भी... आहा..हा... ! मनुष्यपने में जो आत्मदर्शन को प्राप्त हुए, (उन्हें धन्य है)। समझ में आया ? सम्यग्दर्शन (प्राप्त करने के बाद) जरा भी संयम न हो। अज्ञानी (कहता है) हम तो रूखा खाते हैं, छाछ पीते है, दो द्रव्य कम करते हैं, नीचे सोते है, चद्दर में सोते हैं, क्या है तेरे ? और यह तो ऐसा करता है, अमुक करता है।

समकित महिमा

एक बार नहीं कहा था ? बहुत वर्ष पहले (एक भाई ने) पूछा था। महाराज ! यह सब दो-दो गद्दो रेशम के गद्दों पर सोते हैं और तुम कहते हो कि निर्जरा होती है, उसे धर्म होता है। कहा-सोने से धर्म होता है - ऐसा कहा था ? और हम यहाँ नीचे सोते हैं, गद्दा पुराना हो, (तो तुम कहते हो) तुम मिथ्यादृष्टि हो, तुम्हें इसमें गृद्धि है। भाई ! (एक भाई ने) पूछा था। पहले से होशियार व्यक्ति है। इस तरह बुद्धि में पहले से तर्क (करता है)। कहा - बापू ! वह दो गद्दों पर नहीं सोता; वह तो आत्मा के आनन्द में पड़ा है; उसे बाहर की आसक्ति भले हो, परन्तु अन्दर रुचि नहीं है। तीन काल-तीन लोक की रुचि एकदम उड़ गई है ! एक समय में उड़ गयी है। जहाँ आनन्द का प्रेम जगा, अनुभव (हुआ तो) एक समय में तीन काल-तीन लोक दृष्टिमें से छूट गया है। अज्ञानी बाहर से हजारों रानियों का त्याग करके, बाहर से खाता-पीता न हो और कम खाता हो और कम बोलता हो तथा किसी की प्रकृति ऐसी हो कि धीमे धीमे बोलने का होता हो, इससे कोई वस्तु है नहीं। समझ में आया ?

जिसे भगवान आत्मा नजर में नहीं पड़ा है और राग व पुण्य के वर्तन में जिसकी बुद्धि - एकत्व वर्तती है - ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि को इन्द्र आकर पूजते हैं। लो, वह अविरति है। आहा..हा..! समझ में आया ? बहुमान देते हैं कि ओ..हो...! तुमने मनुष्यपने में ऐसा काम किया। हम तो देव हैं, भगवान का योग था, हमें तो धर्म प्राप्त हुआ। तुम... आहा..हा...! साधर्मी के रूप में उन्हे बहुत प्रेम आता है। समझ में आया ? अरे..! ऐसे माँस के पिण्ड में आत्मा को जाना, ऐसे शरीर में रोग और ऐसे में (तुमने आत्मा को जाना)। हम तो वैक्रियक शरीर के स्वामी, पूर्व का पुण्य भी बहुत, और हम तो पवित्रता लेकर आये हैं। देखो न ! फिर शब्द कैसा प्रयोग किया है !

'**चरितमोहवश लेश न संजम, पै सुरनाथ जजै हैं।**' फिर भी देवों के स्वामी इन्द्र, जजैं अर्थात् पूजा करते हैं अर्थात् बहुमान करते हैं। बहुमान करते हैं, ओ..हो..! अरे..! अछूत हो और आत्मज्ञान हो, अछूत ! आत्मदर्शन (होवे) और अछूत हो। घर में कुछ न हो, स्त्री काली कुबड़ी हो, लड़के का ठिकाना न हो... रहने के लिए बंगला तो कहाँ से हो ? साँठे (सूखी घास) हो, ले। थोड़ा ऐसा साँठे और थोड़ा ऐसे साँठे। ऊपर से बिच्छु गिरते हों। (इन भाई के वहाँ) बैठे थे और एक बार बिच्छु गिरा। (एक भाई) और हम तो बैठे थे और पढ़ते थे तो बीच

में बिच्छु गिरा। लो ! इतना बड़ा, हाँ ! चीड़िया जैसा (बड़ा)। एक बार मैं कमरे में खुल्ला बैठा था और ऊपर से ऐसे गिरा। इतना (बड़ा) बिच्छु। क्योंकि पुराना मकान है न ! दो बिच्छु। (मकान) बहुत पुराना न ! यह तो अभी दिखता भी ठीक है, वहाँ तो कोर्ट थी। (बाकी) तो समझने जैसा है। हमने एक मकान देखा था। वहाँ उतरे थे न ? 'मोरबी' के इस ओर एक मकान था। वेला, वेला के मकान में उतरे थे। मकान समझने जैसा था। वह तो एकबार यह हो और एकबार वह हो। वहाँ 'सरा' गये थे न, 'सरा' ? सूखी घास अभी अन्दर से कुछ गिरेगा, ऐसा सब (था)। सम्यग्दृष्टि को बाहर में ऐसा भी होता है। देव आकर पूजता है, बहुमान करता है – ऐसा यहाँ कहते हैं। आहा..हा... ! बाहर के संयोग की अपेक्षा नहीं है।

जिसे अकेला चिदानन्द स्वभाव रुचिकर हुआ है, जिसने भव का अभाव किया है, उसे अब भव नहीं है। यह तो थोड़ा राग (होवे और) एक-दो (भव होवे, वह अलग बात है)। समझ में आया ? यह सम्यग्दर्शन की महिमा कहते हैं। सम्यग्दर्शन अर्थात् क्या और उसकी महिमा अर्थात् क्या ? उसका स्वरूप क्या ? समझ में आया ? '**इन्द्र (जजैं हैं)।**'

'**गृहस्थ हैं...**' देखा ? गृहस्थ में रहते हैं। स्त्री-पुत्र हों, परिवार हों... समझ में आया ? सम्यग्दृष्टि हो। स्त्री हो, पुत्र हो, परिवार हो, व्यापार हो, धन्धा हों। देखो ! गृहस्थ है न ? '**गृहस्थ हैं, तथापि घर में नहीं राचते।**' अन्दर राग में जरा भी रुचि नहीं है। आहा..हा... ! यह समझ में आता है ? सम्यग्दर्शन में स्व-पर का विवेक हुआ है, इसलिए पर का प्रेम, अपने से भिन्न में प्रेम अन्दर से उड़ गया है, सम्पूर्ण लोक का प्रेम उड़ गया है।

स्व-पर का ज्ञान है न ? स्वपर किसे कहना ? भगवान आत्मा अनाकुल शान्तरस का स्वरूप, वह स्व और विकल्प से लेकर और पुण्य-पाप से लेकर पूरी दुनिया, वह पर (है)। आहा..हा... ! अन्तरमें से

लोकालोक का त्याग दृष्टिमें से हो गया है और भगवान परमात्मा अनन्त... अनन्त केवलज्ञान का कन्द भगवान आत्मा अन्दर में आ गया है, परन्तु अस्थिरता में गृहस्थाश्रममें रहते हैं। समझ में आया ? अत: कहते हैं – गृहस्थ में हो। आदमी हो तो स्त्री भी हो और स्त्री हो तो उसका पति भी हो, पुरुष भी हो, परन्तु राचते नहीं। समझ में आया ? अरे.. ! हमारा आनन्द जहाँ देखा, उस घर में हम जाना चाहते हैं या उसमें आना चाहते हैं। कुछ समझ में आया ? आहा..हा... !

'**नहीं राचते...**' गृहस्थाश्रम में कहीं उनका दिल नहीं ठहरता, कहीं मन नहीं लगता। ठहरा है, वहाँ से नहीं हटता। समझ में आया ? आठ वर्ष की बालिका सम्यग्दृष्टि हो, आठ वर्ष की कन्या ! समझ में आया ? निर्विकल्प दृष्टि, अनुभव (हुआ हो), घर में उसके मात-पिता भी कहें – लड़की ! धन्य है तुझे ! तेरे अवतार को धन्य है ! समझ में आया ?

मुमुक्षु :– हमें सुनकर प्रसन्न रहना न ?

उत्तर :– सुनकर प्रसन्न रहना अर्थात ? समझना, उसे समझना। अर्थात् क्या ? उसका स्पष्टीकरण करो तो कहें। समझ में आया ?

'**नहीं राचते। जिस प्रकार...**' अब तीन दृष्टान्त देते हैं। आहा... ! बाहर का दूसरा कोई त्याग नहीं – ऐसा कहते हैं और अभी राग भी आसक्ति का, विषय और भोग का वर्तता है। अन्दर दृष्टि में ठहर गये हैं। कहीं रस नहीं है, रस नहीं है। किसकी तरह ?'**कमल पानी से भिन्न रहता है...**' दृष्टान्त देते हैं। कमल और जल। कमल और जल दोनों अत्यन्त भिन्न है। इसी प्रकार आत्मा और ज्ञान, आत्मदर्शी उसे और यह सब बाह्य चीजें अत्यन्त भिन्न भासित होती हैं। जिसे भिन्न भासित हुआ, उसमें अहंपना कैसे आये ? जिसमें स्वभासित हुआ, उसमें उसकी अन्तर की महासत्ता का अस्तित्वपना कैसे छूटे ? समझ में आया ?

'**कमल जल से भिन्न...**' है न ? शास्त्र में दृष्टान्त दिया है न ? ऐसे पानी छुआ हुआ दिखता है, कमल को स्पर्शित (दिखता है), उस कमल के रोम ऐसे होते हैं न ! कि पानी उसे छूता ही नहीं, छूता ही नहीं। आहा..हा... ! समझ में आया ? इसी प्रकार चैतन्य सम्यग्दृष्टि जीव को... उसमें नहीं आता ? ऐसे साधारण भाषा नहीं आती ? तुम नहीं बोलते ?'**सम्यग्दृष्टि जीवड़ो करे कुटुम्ब प्रतिपाल**' – यह सब बोलते थे या नहीं ?'**सम्यग्दृष्टि जीवड़ो करे कुटुम्ब**

प्रतिपाल, अन्तरंग से न्यारो रहें ज्यों धाउ खीलावे बाल' – यह बालक मेरी जंघा का नहीं, मैं तो उसकी पालक हूँ, मुझे बीस-पच्चीस (रुपये) जो देना हो वे दें। बड़ा होगा तो यह मेरा पोषण करेगा – ऐसा वह नहीं मानती, फिर भी पुत्र को जैसे संभाले उसी प्रकार नहलाती, धुलाती, खिलाती, सुलाती, खेल कराती है। समझ में आया ? अन्दर में कुछ नहीं होता। मेरा लड़का ही नहीं है न ? आहा..हा...! फिर बोलती भी है बेटा ! तुझे कैसा है ? पुत्र ! मेरा ऐसा है। ऐसा कहती है या नहीं ? अन्दर में कुछ लेना देना नहीं होता। समझ में आया ? 'धाउ खिलावे बाल' ऐसे सम्यग्दृष्टि जगत के खेल में खड़ा दिखे, (फिर भी) अन्दर में उसे खेल का प्रेम नहीं है। आहा..हा...! समझ में आया ?

'**कीचड़ में सुवर्ण...**' इस कीचड़ में सुवर्ण सो वर्ष रहे (तो भी) उसे जंग नहीं लगती, हजारों वर्ष रहे तो भी जिसे एक समय कीचड़ नहीं लगता, उसे कभी नहीं लगता। सोना कीचड़ में पड़ा (हो), कैसा चिकना कीचड़, हाँ ! ऐसा समुद्र का... आता है न ? क्या कहलाता है वह ? सीमेन्ट। ऐसा कीचड़। उस कीचड़ में पड़ा हो परन्तु सोने को कोई जंग लगता होगा ? भाई ! आहा..हा...! ऐसे जहाँ आत्मा की दृष्टि-निर्विकल्प सम्यग्दर्शन भान हुआ (तो) कहते हैं, कीचड़ में जैसे सोना शुद्ध रहता है, वैसे प्रत्येक प्रसंग में संसार में रहने पर भी उसे लेप नहीं लगता। कहो, समझ में आया ?

'समयसार नाटक' में तो एक जगह बहुत कहा है। चलता है तो कहते हैं कि वह स्वयं स्थिर है बोलता है तो कहते हैं कि मौन है। ऐसा आता है न ? एक जगह आता है। समझ में आया ? वह विकल्प आता है, वह खिर जाता है। आहा..हा...! अज्ञानी बाह्य त्याग करके बैठा हो, उसमें उसे अन्दर में राग के प्रेम में पड़ा (है), उसे समय-समय अनन्त संसार बढ़ता जाता है। अनन्त अर्थात् मिथ्यात्व। मिथ्यात्व के साथ सम्बन्ध करनेवाली अनन्तानुबन्धी, वह पुष्ट

होती है, और संसार दूसरा कहाँ है ?

जैसे, कीचड़ में सोना शुद्ध रहता है, वैसे सम्यग्दृष्टि को गृहस्थाश्रम में भी लेप नहीं लगता। '**(उसी प्रकार वे घर में) नगरनारिकौ) वैश्या के (प्यार यथा)...**' देखो ! दृष्टान्त दिया। दृष्टान्त में क्या ? वैश्या का प्यार। वैश्या को पैसे की सोबत है। पैसा देनेवाला एक अछूत आवे तो भी रमे, परन्तु गहराई में उसे प्रेम नहीं है। यह तो एक दृष्टान्त दिया है, हाँ ! वह कहेंगे। वैश्या का प्रेम मात्र पैसे में होता है। समझ में आया ? उसे मनुष्य के प्रति प्रेम नहीं होता, यह मनुष्य जो आया, उसके प्रति प्रेम नहीं होता, उसे पैसे के प्रति (प्रेम) है। वैसे ही धर्मी को आनन्द के प्रति प्रेम है। अतीन्द्रिय आनन्द का प्रेम है; जगत की किसी चीज में रुचि नहीं है। समझ में आया ? नीचे स्पष्टीकरण किया है, हाँ ! '**यहाँ वैश्या के प्रेम से मात्र अलिप्तता की तुलना की गयी है।**' (किसी को ऐसा लगे कि) ऐसी उपमा क्यों दी ? ऐसी उपमा क्यों दी ? उपमाा में सिद्धान्त सिद्ध करना है। वैश्या, पैसे देनेवाला हो (और) तीन हजार दे तो अछूत होवे तो उसके साथ रमती है। उसे है कुछ ? रमती है तो प्रेम किसका है ? अछूत का है ? मनुष्य का है ? यह दृष्टान्त है। वैसे ही ज्ञानी को आत्मा के आनन्द के समक्ष अन्य में कहीं प्रेम नहीं आता, कहीं मन नहीं ठहरता, मन कहीं विश्राम नहीं पाता। आहा..हा...! समझ में आया ?

'**नगरनारि...**' नगरनारी कहलाती है, क्योंकि किसी एक घर की नारी नहीं, ऐसा। भाषा ऐसी प्रयोग की है न ! नगरनारी अर्थात् जो कोई मनुष्य आवे उसकी स्त्री, ऐसा। उसकी तरह प्यार-प्रेम है; उसकी तरह प्रेम होता है। जैसे उसे अन्दर में प्रेम नहीं है; वैसे ही धर्मात्मा को परिवार में, शरीर में, कर्म में (प्रेम नहीं है)। बाहर से देखो तो ओ..हो..हो...! ऐसे घर में करोड़ों का, अरबों का खर्च होता हो, घर में पुत्र का विवाह होता हो... समझ में आया ? ऐसे गहने पहनकर स्वयं बैठा हो, गहने अन्य को (पहनाये) हों, घुड़सवार, हाथी (हों)... चक्रवर्ती को चौरासी लाख हाथी (होते हैं)। उसका-चक्रवर्ती का स्वयं का विवाह हो, तब कितना होगा ? अथवा पुत्र का विवाह हो, उसे कितना वैभव होगा ? समझ में आया ? यह तो अघाति के उदय का संयोग है। स्वरूप और राग के बीच भेद पड़ गया है। राग और स्वभाव के बीच भेद पड़ गया है, भेद पड़ गया है। भेद हुआ, वह अब अभेद नहीं होगा - ऐसा कहते हैं।

जहाँ राग और पर के प्रति भेदज्ञान हुआ, उसे बाहर की चीज लाख, करोड़ हो और कदाचित आसक्ति भी हो, परन्तु उस आसक्ति और पर से जिसे अन्दर भेद पड़ गया है। समझ में आया ?

'**भावार्थ - जो विवेकी २५ दोष रहित...**' यह २५ दोष कहे न ? '**और अंगरूप आठ गुण सहित सम्यग्दर्शन धारण करता है, उसे अप्रत्याख्यानावरणीय कषाय के तीव्र उदय में जुड़ने से...**' ऐसा शब्द इसमें है। यह बात अपेक्षा से है। '**यद्यपि संयमभाव लेशमात्र भी नहीं होता...**' ऐसा सिद्ध करना है। संयम का अंश भी नहीं है, उसमें अप्रत्याख्यान की तीव्रता है – ऐसा कहना है। '**तथापि इन्द्र इत्यादि...**' इन्द्र इत्यादि, हाँ ! इन्द्र बड़ा हो, यह तो दृष्टान्त में दिया है। '**सुरनाथ जजै हैं।**' दृष्टान्त में इन्द्र दिया, परन्तु बड़ा नगरसेठ अरबपति (होवे, वह आकर पूजते हैं)। समझ में आया ? आहा..हा...! एक अछूत की लड़की अनुभव पाकर सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुई हो और उसे पता चले तो अरबोंपति (वहाँ जाए)। ओ..हो...! माता ! वह वापस विवाह करनेवाली हो, हाँ ! भाई !

'**अगम प्याला पिओ मतवाला, चिन्ही अध्यात्म वासा,**

आनन्दघन चेतन वहै खेले, देखे लोक तमासा।'

कहते हैं, उसे इन्द्र आदि से लेकर (सभी नमस्कार करते हैं)। इन्द्र (कहकर) बड़ी से बड़ी बात की है। गाँव का नगरसेठ हो, राजा हो, दीवान हो... समझ में आया ? सम्यग्दृष्टि को आदर करते हैं, बहुमान देते हैं। धन्य... धन्य...! ऐसा सम्यग्दर्शन का माहात्म्य है। समझ में आया ? थोड़े में बहुत भर दिया है न !

'**जिस प्रकार पानी में रहने पर भी कमल पानी से अलिप्त रहता है...**' लिप्त नहीं होता। '**उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि घर में रहते हुए भी गृहस्थपने में लिप्त नहीं होता, निर्मोह (उदासीन) रहता है।**' निर्मोह रहता है। आहा..हा...! नारियल की काचली में गोला पृथक् रहता है, उसी प्रकार पृथक गोला रहता है, कहते हैं।

'**जिस प्रकार वेश्या का प्रेम मात्र पैसे से ही होता है, मनुष्य पर नहीं होता; उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि का प्रेम समकित में ही होता है, किन्तु गृहस्थपने में नहीं होता।**' ऐसा कहते हैं।

'**जिस प्रकार सोना कीचड़ में पड़े रहने पर भी निर्मल और पृथक् ही रहता है...**' भिन्न और निर्मल दोनों। '**उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव गृहस्थदशा में रहने पर भी उसमें लिप्त नहीं होता क्योंकि वह उसे त्याज्य मानता है।**' हेय मानता है, छोड़ने योग्य मानता है। छोड़ने योग्य माने, उसका प्रेम क्या ? समझ में आया ? नीचे 'स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा' की गाथा (दी है)।

विषयासक्तः अपि सदा सर्वारम्भेषु वर्तमानः अपि;

मोहविलासः एषः इति सर्व मन्यते हेयं।।३१४।।

देखो ! यह 'स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा' की गाथा है। सम्यग्दृष्टि जीव, विषयासक्त होने पर भी '**सदा सर्वारम्भेषु**' वह जीव '**सर्वारम्भेषु**' समस्त प्रकार के जो संसार के आरम्भ हैं, उसके योग्य, हाँ !'**वर्तमानः अपि**' वर्तमान में वर्तने पर भी, '**मोहविलासः एष**' यह तो मोह का विलास हैं; मेरा नहीं। समझ में आया ? यह मेरा स्वरूप नहीं '**इति सर्व मन्यते हेयं**' समज में आया ? क्या अर्थ किया है इसमें ? मोहविलास। ३१४ है न ? मोहविलास। मोहनीयकर्मविलास। '**विलसनम्**' वह चेष्टा है; मेरा स्वरूप नहीं।

'**सर्व विषयादिकर्म हेयं त्याज्यं मन्यते प्रत्यक्ष मोहविलास मोहनीयकर्म विलास विलसनम् चेष्टा।**' मेरी चेष्टा नहीं, आत्मस्वभाव की चेष्टा नहीं। समझ में आया ?'**पुत्र कलत्र शरीर धनधान्य सुवर्ण गृहादि परद्रव्यं सर्ववस्तु त्याज्य मन्यते, जानाति मन्युते। सदा निरंतरो विषयासक्तोपि।**' देखो ! यहाँ 'सदा' डाल दिया है। पाठ में सदा है न ?'**इन्द्रियाणां विशेषो आसक्ति प्रीतिगतोऽपि... विरक्तसन् सर्व हेयं परवस्तु त्याज्यं**' – जहाँ स्व और पर का विवेक है और पर का विवेक न हो, उसे पर का प्रेम होता है। जहाँ पर और स्व का विवेक हुआ, वहाँ स्व के प्रेम में पर का विवेक कैसे रहे ? तो उसे स्व और पर का अन्तर में विवेक नहीं हुआ। '**सर्व आरम्भेषु असिमसिकृषिपशुपालनादि वर्तमानोऽपि**' – पशुपालन आदि सब कहा। '**सर्व व्यापारकरोऽपि सर्वहेयं भरत चक्रीवत् मन्यते।**' दृष्टान्त दिया है। 'भरत' चक्रवर्तीवत् मानते हैं। क्या कहते हैं ?'**अपिशब्दा सर्वआगमनेषु**' प्रवर्तमान कहा, परन्तु '**विरक्ततएव सर्वहेयं मन्यते**' प्रवर्तमान कहा परन्तु फिर विरक्त लेना – ऐसा कहते हैं, ऐसी गुलांट खाता है। समझ में आया ? देखो ! उसका दृष्टान्त दिया है।

'**धात्रिबालासतिनाथपद्मिनीजलबिन्दुवत**' ऐसा दृष्टान्त दिया है। धात्रि समझे न ? माता, सती, नाथ, पद्मिनी, जलबिन्दुवत्... '**आभासम भुंजनम् राज्यं...**' बाहर से भोक्ता दिखता है। ठीक... ठीक... टीका की है। यह गाथा है।

जिसे छोड़ने योग्य माने... हाथ में सर्प पकड़ा है, वह कहीं प्रेम से (पकड़ा) नहीं है, छोड़ने के लिये हैं। ओ..हो...! जिसे आत्मा के आनन्द की प्रेम – रुचि हुई, उसे आसक्ति आदि समस्त चीजे छोड़ने योग्य है; इस कारण उसे उनका लेप नहीं लगता। समझ में आया ? अब, उसकी महिमा कहेंगे। वह जीव कहाँ–कहाँ नहीं उत्पन्न होता – यह बात करेंगे।

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

❁

आचार्यदेव कहते हैं कि अनेक प्रकारके शुभ विकल्प करनेसे कोई कार्यसिद्धि तो होती नहीं । कार्यसिद्धि तो अनंत-अनंत आनन्दके सागर-ऐसे आत्माकी ओर ढ़लनेसे ही होती है । उधर क्यों नही झुकता ? अनेक प्रकार के शुभ विकल्पोंकी क्रियामें जैसे-जैसे आगे बढ़ता जाता है, वैसे स्वानुभवरूपी कार्यको सिद्ध करनेसे भ्रष्ट होता जाता है । प्रथम आत्माका निर्णय करके स्वानुभवका प्रयत्न करना चाहिए । जो ऐसा नहीं करता, और शुभ विकल्पों में आगे बढ़ता जाता है , वह स्वानुभव-मार्गसे भ्रष्ट होता जाता है । अशुभकी ओर जानेकी तो बात है ही नहीं । श्रीमद् राजचंद्रजी भी कहते हैं कि 'केवल वांचन ही करते रहनेसे चिन्तन शक्ति घटती है' उसी प्रकार जैसे केवल शुभविकल्पों और क्रियाकाण्डमें बढ़ते जाते हैं, वैसे ही स्वानुभव - मार्गसे भ्रष्ट होते जाते हैं । सर्व शास्त्रबोधका सार तो आत्मानुभव करना है । बारह अंगमें भी आत्मानुभूति ही करनेका निर्देश है । (परमागमसार-२८६)